क्या इस आत्म-पूज्य संस्कृति में 'सामान्य' को महान मानना उचित है?

पच्चीस वर्ष पहले यदा-कदा मिलने वाले पुरस्कार आज सामान्य से हो गए हैं। पहले जो पुरस्कार किसी उपलब्धि का किसी समिति या निर्णायकों द्वारा गंभीर आकलन के बाद दिए जाते थे, वही आज आत्म-पूजा से जन्मे अहंकार के युग में किसी गंभीर मूल्यांकन का विषय नहीं रह गए हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में आज पुरस्कार पाना बहुत आसान सा हो गया है।

इस परिवर्तन के पीछे दो प्रकार की परिस्थितियां हैं - शहरी जीवन का तेजी से निजीकरण और दूसरा, इस निजी होती जिन्दगी के कारण सार्वजनिक संस्कृति का महत्वहीन होते जाना। जब सार्वजनिक या संगठित मूल्यांकन का स्थान आत्म-श्रद्धा ले लेती है, तो हमें समझ जाना चाहिए कि समय बदल गया है। एक समय था, जब कोई पत्रकार केवल अपने को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं लिखता था, बल्कि ऐसा करने की उसमें क्षमता होती थी। इसी प्रकार एक चित्रकार अपनी चित्रकारी का इस्तेमाल नए-नए विचारों को रूप देने के लिए करता था। तत्पश्चात् वह उनमें से किसी के लिए लोगों से प्रशंसा की अपेक्षा रखता था। लोगों की प्रतिक्रिया के लिए अपने विचारों का प्रदर्शन करना उस संस्कृति का अंतर्निहित हिस्सा हुआ करता था, जो अपनी कुछ चुनी हुई प्रतिभा को ही दूसरों को दिखाने में विश्वास रखती थी।

समाचार पत्र केवल तथ्य प्रस्तुत करते थे। विचार-प्रदर्शन का काम उन पर छोड़ दिया जाता था, जो उन तथ्यों से जुड़ा अनुभव रखते थे। और यही कारण है कि उनके विचारों को विश्वसनीय समझा जाता था। रद्दी में पड़े हुए आलेख एवं पाण्डुलिपि, कुछ बिना बिकी कलाकृति, कुछ अन्चिन्हित फिल्में या निधि के अभाव में व्यर्थ पड़ी योजनाएं उन सभी उपलब्धियों की कहानी कहती थीं, जिनको उनकी तुलना में लोगों ने हाथो-हाथ लिया। प्रकाशन की जटिल और महंगी प्रक्रिया, एक संपादक का महत्व एक प्रकार से इस बात का आश्वासन देता था कि लेखन को गंभीरता से लेने वाले लोग ही लिख रहे हैं। कला के क्षेत्र में भी, उन्हीं की कला की प्रदर्शनी हो पाती थी, जो समस्त साधनों से स्वयं को इसमें समर्पित कर देते थे। जो सामान्य होता था, वह अस्वीकृत कर दिया जाता था।

आज सार्वजनिक स्थानों का ही अपने आप में जनतंत्रीकरण हो चुका है। आज प्रत्येक व्यक्ति किसी माध्यम या रूप में किसी विषय पर अपने को प्रस्तुत करने के लिए अधिकृत सा है। प्रतिदिन हर व्यक्ति यह कर भी रहा है। कुछ नहीं तो दिन भर में लगभग 15 करोड़ स्नैपचेट का आदान-प्रदान, और 1.15 अरब अभिमत फेसबुक पर दिए जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सोशल मीडिया एक-दूसरे से जुड़े रहने का जरिया है। लेकिन यह सम्पर्क फॉलोवर, लाइक्स या अन्य प्रकार के आत्म-व्यभिचार जैसी बीमार प्रतियोगिता को जन्म देने के अलावा कुछ नहीं है। बात-बात पर सैल्फी लेने, जीवन के हर वांछित या अवांछित पल को कैद करने की मानसिकता में अनजान व्यक्तियों की नजरों में भी स्वयं को प्रतिष्ठित करने की उत्कंठा भरी हुई लगती है। अत्यंत ही वैयक्तिक स्तर पर आदान-प्रदान करके स्वयं को स्थापित करने की भूख ने सार्वजनिक जीवन को समाप्त कर दिया है।

इस तुरन्त वाली संस्कृति के पनपने में तकनीक का बहुत बड़ा हाथ है। जब सामान्य लोगों को सार्वजनिक मंच पर पहचान मिलने लगती है, तो इस होड़ में शामिल होने की एक संस्कृति सी बन जाती है। आज तो एक अकउंटेंट फोटोशॉप के माध्यम से कई पेंटिंग बनाकर बेच रहा है या ऐसा ही कोई उपन्यास लिखकर प्रसिद्धि पाने का प्रयत्न कर रहा है।

इस 'आत्म-पूज्य' संस्कृति में 'सामान्य' भी महानता की सीढ़ियों पर चढ़ता दिखाई दे रहा है। निज के लिए किए जाने वाले कर्म अमरत्व प्रदान करने वाले बन रहे हैं। टेलीविजन पर आने वाले रियलिटी शो या सिर्फ अपनी पूंजी बढ़ाने वाले व्यवसायी को क्या आप सार्वजनिक स्थान दे सकते हैं?तत्काल मिलने वाली संतुष्टि के इस 'मैं और मेरे' वाले संसार ने चयन आधारित आने वाले सार्वजनिक मंच के विशेषज्ञों का स्थान ले लिया है। किसी समय अपने अभिभावकों द्वारा समर्थित सांस्कृतिक विचारों एवं कारणों पर विचार करने को कोई तैयार नहीं है। इस सार्वजनिक जीवन के प्रति अविश्वास ने लोगों को प्रजातांत्रिक प्रक्रिया से दूर कर दिया है। वे सामाजिक उद्देश्य के लिए कुछ नहीं करना चाहते। जीवन अब क्षमता की बात नहीं रहा है। वह तो अपने-आपको आगे बढ़ाने के लिए एक ब्रांड की तरह का हो गया है। अगर इन सबसे आप सहमत हैं, तो हम क्या अब अपने बच्चों के लिए एक बेहतर संसार छोड़ जाएंगे?' ऐसे प्रश्न को इस प्रकार से व्यक्त करना होगा कि 'क्या हम इस संसार के लिए बेहतर बच्चे छोड़ जाएंगे?'

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित गौतम भाटिया के लेख पर आधारित।